

भारतीय बहुसंस्कृति की राजस्थान की 'समाजशास्त्र' की किताब से दूरी

डॉ. फरहा फारूकी

लेखक परिचय :

लगभग सात वर्ष तक लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली में आरंभिक शिक्षा विभाग में अध्यापन और विभागाध्यक्ष, वर्तमान में जामिया मिलिया इस्लामिया के आरंभिक शिक्षा विभाग में बतौर रीडर कार्यरत

सम्पर्क :

रीडर
इंस्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टेडीज इन एज्यूकेशन
जामिया मिलिया इस्लामिया,
नई दिल्ली

आज हम स्कूलों को देखें तो वो हर मुमकिन सामाजिक आधार पर बंटे हुए दिखाई देते हैं या फिर यह कहा जा सकता है कि इनमें समाज का अक्स साफ दिखाई देता है। यह बंटवारा अमीर और गरीब के हिसाब से ही नहीं है, अनेकों नए तरह के आधार दिखाई देने लगे हैं। मोहल्लों के साथ-साथ स्कूलों में भी धार्मिक विविधता की जबरदस्त कमी दिखने लगी है। विभिन्न बच्चों को एक दूसरे से मिलने, जानने और रिश्ते बनाने के मौके स्कूलों में कितने मिलेंगे, आज यह एक बड़ा सवाल बन चुका है। उदाहरण के तौर पर, राजस्थान में जहां देश के 13.4 प्रतिशत औसत के मुकाबले में, मुसलमानों की आबादी 8.5 प्रतिशत है। इसके अलावा मुसलमानों में ऐसे बच्चे अधिक हैं (औरों के मुकाबले में) जो कभी स्कूल ही नहीं गए और ऐसे बच्चे तो सबसे ज्यादा हैं जो बीच में स्कूल छोड़ देते हैं। यहां, कितने ही स्कूल ऐसे होंगे जहां 40-45 की कक्षा में एक या दो मुसलमान बच्चे होंगे या फिर एक भी नहीं।

किताबों से और खासतौर से समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह समाज संरचना, संस्कृति, विविधता, संस्थाओं, सामाजिक रिश्तों और एक दूसरे पर इनके प्रभाव के बारे में बच्चों को अवगत कराएगी। स्कूल में विभिन्नता के अभाव के बावजूद बच्चे का परिचय विभिन्न संस्कृतियों से करवाने में सक्षम होगी। राजस्थान की ग्यारहवीं की समाजशास्त्र की किताब इन जिम्मेदारियों को किस तरह से निभा रही है, इसका जायजा दो तरह से लिया जा सकता है। एक, विषयवस्तु क्या है ? दूसरा, शिक्षाशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखा गया है या नहीं?

विषयवस्तु

किताब में सैद्धांतिक ढांचे का जबरदस्त अभाव लगता है। इस बात की तो कोशिश ही नहीं की गई है कि बच्चे बहु-परिप्रेक्ष्य से दो चार हों और फिर अपना नजरिया बनाने का प्रयास करें। उन पर एक तरह की विचारधारा थोपने की कोशिश की गई है। यहां मैं अपनी बात कुछ ही उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कर पाई हूं, लेकिन यह कहना जरूरी है कि पूरी किताब ही इस तरह के एक सीमित दृष्टिकोण का शिकार लगती है।

1. हिन्दू संस्कृति की औरों के मुकाबले में श्रेष्ठता

किताब में सामाजिक संरचना और विविधता जैसे खिताबों का इस्तेमाल तो किया गया है और इस बारे में बताया भी गया है लेकिन किताब फिर भी एक उच्च वर्गीय हिन्दू पुरुष के प्रतिनिधि के तौर पर आग्रह करती दिखाई देती है। दूसरे धर्मों के मुकाबले में हिन्दू धर्म की प्राचीनता, श्रेष्ठता और भारतीय और हिन्दू की पर्यायता पर जोर दिया गया है। जैसे पृष्ठ 8-9 पर 'देश' की धार्मिक संरचना का उल्लेख ही हिन्दू धर्म के आधार पर किया गया है:-

“हिन्दू धर्मशास्त्रों में धर्म के बारे में की गई विवेचना के आधार पर धर्म तीन प्रकार का होता है ...

यज्ञ, तप, दान, वेदों का स्वध्याय तथा सत्य भाषण ये पांच बातें शिष्ट पुरुषों के व्यवहार में सदा रहती हैं ...

महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा भीमसेन द्वारा बकासुर नामक राक्षस को मारकर अपने आश्रयदाता ब्राह्मण परिवार की तथा नगरवासियों की रक्षा करना इसी धर्म का उदाहरण है। ”

यह तय करना मुश्किल नहीं होगा कि हिन्दू धर्म को समाजशास्त्र की दृष्टि से समझने में महाभारत और बकासुर के किस्से से कितनी मदद मिलेगी। धार्मिक विविधता के संदर्भ में सभी धर्मों के बारे में सूचना दी गई है, लेकिन हिन्दू धर्म की प्रशंसा पृष्ठ 12 पर कुछ इस तरह की गई है:-

“देश की कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग हिन्दू है, इसीलिए भारत एक पंथ निरपेक्ष राष्ट्र है क्योंकि हिन्दुओं में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता पाई जाती है, कट्टरता नहीं। हिन्दुओं के सहिष्णु होने का प्रबलतम कारण यह है कि हिन्दू धर्म के रूप में नहीं वरन जीवन शैली के रूप में या जीवन जीने की एक पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं।”

पूरी किताब में ही, चाहे जातीय संरचना का जिक्र हो या फिर सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का, हिन्दू संस्कृति ‘एक’ और ‘प्रभुत्वशाली’ संस्कृति के रूप में दर्शाई गई है। साथ ही, उसी की विचारधारा को महत्व देकर किताब एक तरह से उसकी सरदारी औरों पर कायम करने की कोशिश करती दिखाई देती है।¹

‘देश की कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग हिन्दू है,’ यह कथन हिन्दू राष्ट्र की दुरुमुट में ढाल दिया गया है। यह एक आक्रामक वैचारिक औजार है जो घोषित धर्मनिरपेक्ष राज्य-राष्ट्र की मूलभूत रूपरेखा को फिर से खींच रहा है।² ‘हिन्दू राष्ट्रवाद’ को उभारने और संभालने के चक्कर में हिन्दुओं की पहचान को भी नकारा गया है। यह अपने आप में बड़ा सवाल है कि यह किस हिन्दू का जिक्र है - जनजातीय, दलित, उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय या फिर और किसी तरह के हिन्दू का। इनमें से हर एक अपनी सांस्कृतिक पहचान के अलग-अलग प्रकार और दावे पेश कर सकता है और इनमें से हर एक के भीतर कई तर्हें हैं जो पता नहीं किस किस तरह एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

किताब में जगह-जगह इस तरह के बेबुनियाद दावे हैं, जैसे पृष्ठ 100 पर, “हाल के वर्षों में धार्मिक असमानता और श्रेणीक्रम यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का क्रम समाप्त हो गया है।” गुजरात हत्याकाण्ड और खैलांजी जैसे हादसों को याद करने पर यह एक मजाक और समाज की सच्चाई को छुपाने के प्रयास के अलावा कुछ नहीं लगता। लेकिन पवित्र भारतीय संस्कृति को बेदाग दिखाना है तो यह कहना किताब की मजबूरी बन जाती है।

2. ‘कुदरती नागरिक’ और बाहरी हमलावर

सामाजिक इतिहास की झलकियों द्वारा यह स्थापित करने की कोशिश की गई है कि बाहरी आक्रमणों के बावजूद किस तरह भारत के ‘कुदरती नागरिकों’ ने विदेशी तहजीब से अपनी महान संस्कृति को बचाया और कायम रखा। ‘भारतीय समाज, निरंतरता एवं परिवर्तन’ पाठ की शुरुआत इस कथन से होती है :-

“भारतीय समाज विश्व के महानतम तथा प्राचीनतम समाजों में से एक है। अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण हजारों वर्ष बीत जाने तथा अनेकों विदेशी आक्रमणों के बाद भी भारतीय

समाज आज भी अपने गौरवमय इतिहास के साथ न केवल जीवित है वरन अपनी निरन्तरता तथा पहचान को बनाए हुए है तथापि कुछ परिवर्तन अवश्य दिखाई देते हैं।”

इस पाठ को पढ़ने पर महसूस होता है कि भारतीय संस्कृति एक कुदरती और शुद्ध संस्कृति है, जिसमें मिलावट करने की और नुकसान पहुंचाने की जिम्मेदारी बाहरी हमलावरों को जाती है।

पृष्ठ 24 पर यह है - “मुगल काल से हिन्दुओं को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर उनको प्रताड़ित करने का जो दौर आरंभ हुआ, अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति के कारण इस काल में भी जारी रहा। ऐसे में भारतीय समाज में राष्ट्रीय भावना जागृत करने के उद्देश्य से डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ नामक सामाजिक सांस्कृतिक संगठन की स्थापना की। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों से भारतीय समाज में संगठन एकता, भाईचारा, देशभक्ति, अनुशासन और समरसता का संचार हुआ तथा राष्ट्रीय संकट के प्रत्येक अवसर पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने राष्ट्रहित में निर्विवाद रूप से अपनी उपयोगिता सिद्ध की।” और पृष्ठ 67 पर ये है : “हिन्दू धर्म प्राचीनतम धर्म है। यह सामाजिक एवं व्यवहारों में पवित्रता एवं आध्यात्मिक विश्वासों की एक लम्बी विकास प्रक्रिया का परिणाम है। लोकमान्य तिलक के अनुसार सिंधु नदी के उदगम स्थान से लेकर हिन्द महासागर तक संपूर्ण भारतभूमि जिसकी मातृभूमि तथा पवित्र भूमि है, वह हिन्दू कहलाता है और उसका धर्म हिन्दू धर्म तथा हिन्दुत्व है।”

इतिहास द्वारा निर्मित विविधता को सांस्कृतिक आदर्श और मुख्यधारा के रूप में उत्पन्न और प्रस्तुत करने की पुरजोर कोशिश की गई है। इस प्रयास में भारत की एकता का संदर्भ वैदिक काल की संस्कृति में ढूंढा गया है। मुगल शासकों को इस आधार पर ‘बाहरी’ और ‘नुकसान’ पहुंचाने वाली हस्तियों के रूप में पेश करना अनिवार्य हो जाता है।

समाजशास्त्र के संदर्भ में अगर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की बात करनी थी तो उसमें इस बात पर जोर देने की जरूरत थी कि उस समय समाज में कैसी परिस्थितियां थीं कि इस तरह के आंदोलन की शुरुआत हुई, जिस तरह प्रशंसा के पुल बांधे गए हैं उससे तो लगता है कि पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल खास तरह की नीतियां और प्रभावक्षेत्र को बढ़ाने के लिए किया गया है।⁴

3. ‘एकता’ में विविधता या ‘विविधता’ में एकता

पाठ्यपुस्तक में सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता में एकता खोजने का आधार ‘प्रभुत्वशाली’ संस्कृति को मान लिया गया है। जैसे पृष्ठ 15-16 पर यह है :- “भारत को हम भारतवासी भारतमाता के नाम से पुकारते हैं और इस तरह अपने आप को उसकी संतान घोषित करते हैं और संतान कभी यह नहीं चाहती कि उसकी माता के टुकड़े हों ... राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, सीता, सरस्वती आदि का पूजन सभी लोग करते हैं ... समस्त भाषाओं की जन्मदात्री संस्कृत भाषा मानी जाती है।”

लेखक असल में विविधता का जिक्र करते हुए कुछ डरे और सहमे से महसूस होते हैं, जैसे सभी की संस्कृति अगर मनाने की बात की जाएगी तो सब कुछ बिखर ही न जाए। बिखरावों को रोकने के तरीकों के तौर पर सांस्कृतिक मुख्यधारा का तसव्वुर है जो स्कूल आने वाले अधिकांश बच्चों की संस्कृति का जिक्र नहीं करता। इसे पढ़कर लगता है कि हम इतिहास में पीछे चले गए हैं जबकि भारत 'राष्ट्र' के रूप में उभरने के लिए छटपटा रहा है या फिर, यह सवाल कि क्या संवैधानिक मुख्यधारा एक राष्ट्र के रूप में यह अहसास कराने के लिए नाकाफी है।

पाठ्यपुस्तक, शिक्षाशास्त्र की नजर से

उडेलना व उलटना : आप अगर समाजशास्त्र की किताब से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह छात्रों को प्रोत्साहित करेगी कि वह अपने परिवेश और समाज को जाने और समझे। इसके लिए किताब उन्हें मौके दे कि वो अवलोकन करें, स्थितियों की तुलना करें, आंकड़े इकट्ठे करें, विश्लेषण करें, मिथकों की जांच करें यदि इन मानदण्डों को मानकर चलें तो शिक्षाशास्त्र की नजर से भी यह किताब मात खाती नजर आती है। पहले ही पन्ने को पढ़ने पर इस बात का अन्दाजा हो जाता है।

“भारतीय सामाजिक व्यवस्था में कई समस्याएं एक साथ यकायक विकसित हुईं जैसे बेरोजगारी, आर्थिक मन्दी, प्रजातीय व जातीय झगड़े”..

इस बात को समझने के लिए निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा।

छात्रों का सामना अलग-अलग विचारधाराओं से करवाने की कोशिश ही नहीं की गई है कि वह अपना खुद का नजरिया बना सकें। किताब हर मुमकिन तरह से 'एक तरह' की विचारधारा बच्चों पर थोपती दिखाई पड़ती है, वह चाहे विषयवस्तु के तौर पर हो या फिर अभ्यासार्थ प्रश्नों के तौर पर:-

पृष्ठ 86 पर दिए गए कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं -

प्रश्न - 3 - किस धर्म को सनातन धर्म कहा जाता है?

- (अ) इस्लाम धर्म को (ब) बौद्ध धर्म को
(स) हिन्दू धर्म को (द) ईसाई धर्म को

प्रश्न - हिन्दू धर्म अन्य धर्मों से किस अर्थ में अलग है ?

पूरी किताब में कहीं भी ऐसे सवाल नहीं हैं जो छात्र को अपने दृष्टिकोण को सामने रखने की हिम्मत दें। बस जो विषयवस्तु उडेली गई हैं वो जेहन नशीन हो सके और पूछने पर उलटी जा सके।

जब 'हम' कह रहे हैं तो जांच क्यों ?

समाजशास्त्र की किताब का एक उद्देश्य समझ में आता है कि शिक्षार्थी मिथकों की जांच कर सकें। जैसे कि एक 'मिथक' प्रचलित रहा है कि मुसलमानों में जन्म दर हिन्दुओं से ज्यादा होने के कारण, मुसलमानों की जनसंख्या हिन्दुओं के मुकाबले में ज्यादा हो जाएगी।

किताब के पृष्ठ 131 पर जनसंख्या से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण तथ्य दिए गए हैं जिसके अन्तर्गत यह दिया गया है - “भारत में हिन्दुओं में 2.37 प्रतिशत और मुसलमानों में 3.1 प्रतिशत वार्षिक दर से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है।”

यह जिस गैर-जिम्मेदारी से दिया गया है, उससे इस मिथक को ज्यादा मजबूती मिलेगी। छात्रों को इस संदर्भ में यह देखने, सोचने और संबंध समझने के लिए कहना जरूरी था कि क्या शैक्षिक स्तर और जन्मदर के बीच कोई संबंध हो सकता है? या फिर शैक्षिक स्तर और सामाजिक और आर्थिक विशेषताओं के बीच क्या कोई संबंध है?

सच्चर समिति रिपोर्ट (2006) के आधार पर मुसलमानों में सामान्य औसत की तुलना में जन्म दर अधिक है, लेकिन इसमें कमी आ रही है और यह सामान्य औसत के बराबर आ रहा है। मुसलमानों के जन्म दर के स्तर पर उनकी सामाजिक-आर्थिक विशेषताओं के अनुरूप भिन्नताएं पाई जाती हैं।

सवाल बच्चों का

बड़ा सवाल यह है कि कितने बच्चों को अपनी और अपनी संस्कृति की झलक इस किताब में मिल पाएगी ? इस तरह किताब जहां बहुत सारे बच्चों की सांस्कृतिक पहचान को नकार रही है वहीं बहुत से बच्चे इस गलतफहमी का शिकार हो सकते हैं कि दूसरों के मुकाबले में उनकी संस्कृति बेहतर, कुदरती, सही और ऊंची है।¹

जहां बहुत से बच्चे अपनी संस्कृति को मानक समझ बैठेंगे वहां दूसरे बच्चों की अस्मिता को नकारा जा रहा है।

ऐसा करने पर 'अजनबीयत' के शिकंजे को और मजबूती मिलती है। और अजनबीयत ही जुड़ी है फासलों से, डर से, बदलों और हमलों से। ◆

संदर्भ

1. सच्चर समिति रिपोर्ट (तालिका-3.3) राकेश बसंत; भारत के मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक स्थिति पर सच्चर समिति की रिपोर्ट, "दृष्टिकोण, मुख्य नतीजे, सिफारिशें एवं उभरते मुद्दे"- यह 10 मार्च की इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली में छपा था।
2. इस बारे में ज्यादा पढ़ा जा सकता है डेविड ब्राउन "एथनिक रिवाइवल : पर्सपेक्टिव एण्ड पॉलिसी", थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली, 11 (4) अक्टूबर 1989.
3. शाहिद अमीन, रिप्रेजेंटिंग द मुसलमान : देन एण्ड नाओ, नाओ एण्ड देन, इन सबआलटर्न स्टडीज, नई दिल्ली 2005
4. अनिल सद्गोपाल "शिक्षा में बदलाव का सवाल : सामाजिक अनुभवों से नीति तक" ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 2000 में पाठ्यपुस्तकों की राजनीति
5. गौलनिक, डी एम एण्ड चिन्न, Ph.G (1998) मल्टीकल्चरल ऐज्युकेशन इन प्यूब्लिस्टिक सोसाइटी. पांचवा प्रकाशन, लौस एन्जलिस।